लेख

महिला अधिकार-न्यायिक संवदेनशीलता के प्रश्न

सुनीता ठाकुर

मैंने एक जगह पढ़ा था- 'न्याय प्रमाणं स्यात्' यानी प्रमाण ही न्याय होता है। पर जहां प्रमाण ही न हों, वहां...? जैसे वैवाहिक संदर्भों से जुड़े मामले! एक मामले में देश की सर्वोच्च अदालत ने कई तर्कों के आधार पर फ़ैसला सुनाया- 'यदि महिला अपनी मर्ज़ी से पति का घर छोड़कर जाती है तो पति उसे गुज़ारा भत्ता देने के लिए बाध्य नहीं है।' सवाल उठता है कि हम सबूतों की बिनाह पर जो फ़ैसले लेते हैं वे कितने सही हो सकते हैं या होते हैं! महिला का पारिवारिक और सामाजिक संदर्भ, हमारे समाज की सोच और दबाव, महिलाओं की आर्थिक स्थिति और विकल्पहीनता क्या इसमें कोई मायने नहीं रखती?

कानूनी दांवपेंचों और तर्कशीलता से इतर क्या हम इस बात पर भी गौर कर सकते हैं कि महिलाएं पति से गुज़ारा भत्ता अपने पास और कोई दूसरा स्थायी विकल्प न होने की स्थिति में ही मांगती हैं। कानून एक ओर इसे विवाहित महिला का अधिकार मानता है और दूसरी ओर इस तरह के फ़ैसले महिलाओं के इस अधिकार को मखौल बनाते से लगते हैं। फ़ैसले में मर्ज़ी की बात कही गई है-लेकिन क्या इस मर्ज़ी को हमारा कानून परिभाषित कर सकता है? अपने ही परिवार को छोड़कर एक विकल्पहीन सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ जाने का साहस हमारे देश की महिलाएं सहज रूप से कर सकती हैं- यह बात तर्क से परे लगती है।

महिलाएं अपने वैवाहिक घर में पति या ससुरालवालों के अत्याचारों को सहकर भी हद दर्जे की सहनशीलता को अपनाती हैं और असह स्थितियां हो जाने पर जब वह घर छोड़ती हैं तो क्या इसे उनकी मर्ज़ी मान लिया जाना चाहिए?

क्या आत्महत्या को सिर्फ़ इसलिए गुनाह न माना जाए कि वह व्यक्ति अपनी मर्ज़ी से करता है-उसे उन हालातों तक पहुंचाने और विवश करने वाले व्यक्तियों और संदर्भों को क्या यूं ही छोड़ दिया जाना चाहिए? क्या एक महिला को सम्मान सहित अपने वैवाहिक घर में रहने और जीने का अधिकार नहीं है? अगर हां तो फिर झगड़ों को जन्म देने वाले हालात और व्यवहारों को पहचानते हुए उन्हें सुधारने की ज़रूरत होनी चाहिए कि परेशान हाल परिवार से अलग हुई महिला के रहे सहे चंद कानूनी अधिकारों पर सवालिया रोक लगाई जानी चाहिए? इस तरह के फ़ैसले क्या महिलाओं के प्रति हमारे कानून के दोगले और अंसवेदनशील नज़रिये को नहीं ज़ाहिर करते?

वास्तव में हमारा न्यायतंत्र आज तक सबूतों और तर्कों की जिस भाषा को अपनाता रहा है-पारिवारिक मामलों में वह किसी भी तरह तर्कसंगत और उपयोगी साबित नहीं हो सकतीं। दैनिक जीवन में परिवार

के सदस्यों के व्यवहारों, बातचीत और जीवनचर्या में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसके कोई सबूत रोज़ाना इकटठे नहीं किए जा सकते। और यदि कोई महिला ऐसा करने का दुस्साहस कर भी ले तो उसे तुनकमिजाज़, झगड़ालू, असहनशील और भी न जाने कैसे-कैसे आरोपों का सामना करना ही पड़ता है।

कानून यदि महिलाओं को बराबरी और व्यक्तिगत सम्मान और पहचान की गारंटी देता है तो उसे उन हालातों को बेहतर बनाए रखने की गारंटी भी देनी होगी ताकि महिलाएं अपने वैवाहिक घर में अधिकार और सम्मान के साथ रह सकें। औरतों को बचपन से मां-बाप इसी एक पहचान के साथ पालते हैं कि वे जो भी कर, सीख लें अंत में जाना उन्हें दूसरे ही घर है जो उनका अपना होगा और विवाह के बाद वे जिस घर में जाती हैं-पूरी उम्र निकल जाती है उस घर के सदस्यों में अपनापन ढूंढते। सच यही है— औरतों का न तो पिता का घर अपना रहने दिया जाता है और न वैवाहिक घर उसका हो पाता है। हम औरतों से पैदा संतानों को तो अपना सकते हैं मगर उन संतानों को जन्म देने वाली बहुएं सदैव अपने मायके और ससुराल के लिए पराई ही बनी रहती हैं।

अपने अनुभवों से मैं कितने ही उदाहरण ऐसे दे सकती हूं जहां पति ने औरत को गुज़ारा भत्ता न देने के लिए समय से पूर्व ही अवकाश ले लिया, खुद को दिवालिया घोषित कर दिया, पति अपनी नौकरी छोड़कर भाग गया या ससुराल वालों ने उसे कानूनन अपनी संपत्ति और परिवार से बेदखल कर दिया। ऐसे में महिलाएं क्या करें? जिस परिवार में वह रह रही हैं वहां अगर उसका जीना हराम कर दिया जाए तो वह क्या करे-उसी घर में फनां हो जाए मगर अपनी 'मर्ज़ी' से घर न छोड़े। वाह क्या तर्क है!

तो क्या हम गुज़ारा भत्ता जैसे प्रश्न को औरत की मर्ज़ी/न मर्ज़ी से इतर उसकी आर्थिक निर्भरता और मज़बूती से जोड़कर देख सकते हैं? क्या महिलाओं के प्रति पुरुषवादी नज़रिया छोड़कर इंसानी अधिकार की नज़र से मामलों की परख की की जा सकती है? क्या हम मान सकते हैं कि भारतीय समाज में कानून से पहले उसका तोड़ निकाल लेने की मानसिकता बहुत बड़ी भूमिका अपनाती है?

एक अन्य मामले में स्थानीय अदालत तथा सत्र अदालत ने तलाक़शुदा पति द्वारा महिला के साथ जबरन यौन उपभोग को बलात्कार न मानते हुए मामले को खारिज कर दिया।

अब आप सोचिए कि हमारी सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था में बच्चे की कस्टडी अपने पास ले लेने वाले पिता के घर एक महिला को जाना पड़ता है क्योंकि उसे पता चलता है कि उसका बच्चा बीमार है। महिला पति के घर जाती है और बच्चे की देखभाल के लिए किन्हीं भी निजी, भावनात्मक, पारिवारिक या सामाजिक कारणों और दबावों से वहां रुक जाती है। तो क्या उसके तलाक़शुदा पति को यह हक़ मिल जाता है कि वह अपनी भूतपूर्व पत्नी के साथ यौन-ज़बरदस्ती करे? क्या बच्चे की कस्टडी प्राप्त पिता के घर में तलाक़शुदा पत्नी का प्रवेश या बच्चे से मिलना इतना बड़ा गुनाह हो सकता है कि उसका पति उसे किसी भी कारण से उपभोग करने का पुनः अधिकार प्राप्त कर ले?

यहां बात अगर रज़ामंदी की होती तो समझ में आती-मगर रज़ामंदी होती तो महिला मामले को कोर्ट में क्यों लाती? और फिर रज़ांमदी का आधार क्या है? यह एक कानूनी बहस का मुद्दा होना चाहिए। इस रजांमदी में परिवार के हालात, महिला की मजबूरी कितनी अहम् हो सकती है यह भी समझना ज़रूरी है। क्या 'तलाकशुदा पति' के घर में महिला के जाने के कारणों, उसके वहां रुकने के हालात, घटना के दिन के हालात और व्यवहारों पर पारिवारिक और उसे व्यक्ति से जुड़े मज़हबी कायदे कानून या मानसिकता के संदर्भ में नहीं आंके जाने चाहिए?

सबसे बड़ी बात तो यह कि मानवीय संबंधों और व्यवहारों से जुड़े मामलों में कहीं भी ब्लैक एंड वाइट नहीं चल सकता-उसमें बहुत ऐसा होता है जिसे हम 'ग्रे ज़ोन' कह सकते हैं और सारी करामात व्यक्ति के मज़हब, परिवार, भावनाओं और मानसिकता से जुड़े 'ग्रे ज़ोन' में छिपी होती है।

अफ़सोस कि हमारा कानून महिलाओं के संदर्भ में इन तमाम बातों पर गौर नहीं करता और इसी को हम अपने न्यायतंत्र में जेंडर संवेदनशीलता का अभाव कह सकते हैं। हम यह क्यों नहीं समझते कि परिवार में पुरुष की सत्ता

से सिर उठाने वाली, चुनौती देने वाली महिला को घर से बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है-वह परिवार में हुकुम की गुलाम बनकर हर ज़्यादती सहती रहे तो ठीक-आवाज़ उठाए तो घर से बाहर और सज़ा की हक़दार। अगर परिवार जैसी छोटी इकाई में 'हुक्मउदूली' का यह परिणाम है तो कचहरी में जाकर पुरुष की सत्ता को सार्वजनिक चुनौती देने का साहस करने वाली महिला को सबक सिखाने के लिए तो किसी भी हद तक पुरुष जा ही सकता है। उसमें सबूतों से छेड़छाड़ और झूठी गवाहियां कौन बड़ी बात है।

मैं यहां केवल स्त्रियों की पक्षधरता में नहीं बोल रही, बल्कि उन सामाजिक और पारिवारिक सच्चाइयों की ओर ध्यान दिला रही हूं जिनके रहते औरतों की सही मांगों और बातों को भी गलत और झूठा करार दे दिया जाता है।

एक और मामले में एक अप्रवासी भारतीय मां जो अपने बेटे को लेकर भारत में जगह-जगह शरण लेने के लिए भटक रही है, कानूनी भाषा में फरार है। अमरीकी अदालत द्वारा उसे व उसके पति को बच्चे के संयुक्त मिलने के अधिकार दिए गए हैं। मगर मां को जाने कौन सा डर सता रहा है कि वह बच्चे को अकेले अपने पास रखने के लिए मारी-मारी फिर रही है। अब कानूनी तौर पर देखें तो यह गलत है-मगर इंसानी नज़र से क्या उस मां की भावनाओं और डर को समझा नहीं जाना चाहिए? क्या हम उन हालातों और कारणों पर गौर नहीं कर सकते जो उसे इस तरह के व्यवहार और कदम के लिए मजबूर बनाते हैं?

एक तीसरे मामले में- महिला का पति भारतीय सरकार के खुफ़िया एजेंसी 'रॉ' का उच्च अधिकारी था। इस अधिकारी ने एक विदेशी महिला के साथ बाकायदा शादी की और वह उसे व बच्चे को अपने साथ लेकर भारत आ गया। बच्चे को कश्मीर में अपने माता पिता के पास छोड़ा-मगर मां अपने बच्चे को मिलने और पाने के लिए तरस रही थी- तमाम सबूतों और कागज़ातों के बावजूद उसे न तो वह व्यक्ति मिलने के लिए तैयार था न ही बच्चे को मिलाने के लिए।

अन्ततः महिला हताश होकर अपने मुल्क वापस लौट गई। हमारी तमाम चर्चा एक ही तर्क पर ठहर जाती- 'रॉ' के अधिकारियों को कहीं भी अपनी पहचान छुपाकर जाने, रहने, विवाह करने तक का अधिकार होता है। मुझे नहीं मालूम यह सच है कि कोरी मिथ्या! मगर एक सवाल आज तक मेरे मन में कसकता है-औरत की अस्मिता और अधिकारों का दर्जा क्या हमेशा पुरुषों के आगे दोयम ही बना रहेगा? क्या उन्हें समान सम्मान और पहचान का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए?

इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा महिला को अपने देश वापस लौट जाने और वहां के अदालती आदेशों के अनुरूप पालन का आदेश दिया गया है। सवाल वहीं का वहीं-मां को बच्चे का प्राकृतिक अभिभावक माना जाए या नहीं? अगर माना जाए तो फिर यदि महिला अपने बच्चे की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त नहीं है तो कहां से और कैसे मदद प्राप्त करे? अपने ही देश में अप्रवासी मानकर उसे निकाल दिया जाए या फिर उसके हालातों और मानवीय अधिकारों को सर्वोच्च मानकर सुरक्षा और आश्रय दिया जाए?

पति व ससुराल वालों द्वारा जानलेवा हमले की शिकार महिला थाने में अपने घावों का हवाला देती रह जाती है पर कानूनी प्रावधान के बावजूद 498 ए में पुलिस घरेलू हिंसा का मामला दर्ज नहीं करती। पति द्वारा अदालती आदेशों की धज्जियां उड़ाकर पत्नी को खर्चा-पानी नहीं दिया जाता। सवाल है- अदालत कितनी बार उसे जेल भेजे? और जेल भेजने से होगा क्या? क्या पति की पुश्तैनी ज़मीन के हक़ से पत्नी और उसकी संतान के भरण-पोषण का इंतज़ाम नहीं किया जाना चाहिए? पर यह सब करे कौन? वकील या अदालती विवेकाधिकार!

इन चंद सवालों को उठाने का मेरा मक़सद अदालती आदेशों की अवहेलना करना नहीं है। बस ये कुछ सवाल हैं जो एक औरत होने के नाते मन को कुरेदते हैं, कुछ संवेदनाएं हैं जो ऐसे मामलों और आदेशों को पढ़कर जागती हैं-हो सकता है सबूत और मामले के तथ्य कुछ और बयां करते हों मगर फिर भी.....

सुनीता ठाकुर *महिला संबंधी मुद्दों पर लिखती हैं।*